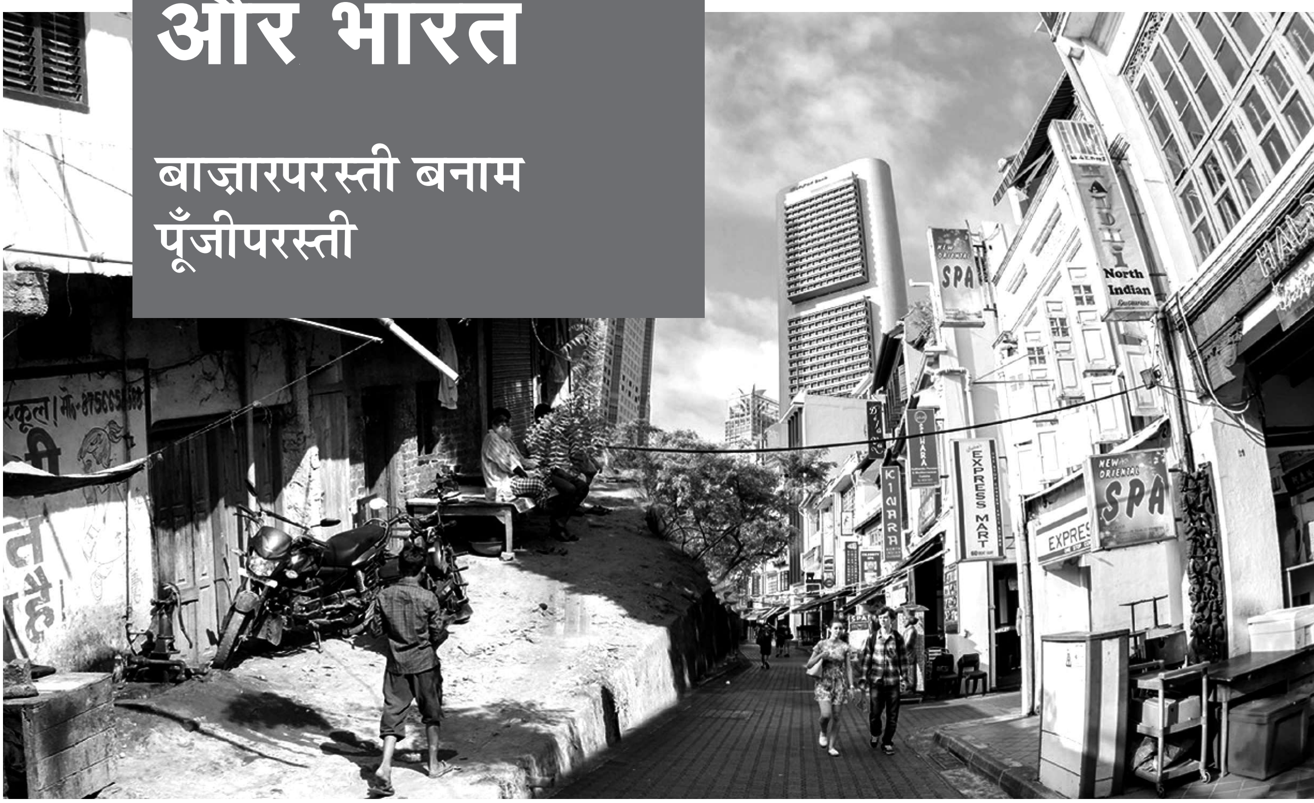
दृष्टि / अभय कुमार दुबे

# फीका पड़ता भूमण्डलीकरण और भारत

## बाज़ारपरस्ती बनाम पूँजीपरस्ती

ब्रेग्ज़िट यानी ब्रिटेन द्वारा युरोपीय यूनियन से एग्ज़िट करने या बाहर निकलने का फ़ैसला। जब बर्लिन की दीवार गिरी थी तो उसे शीत-युद्ध का अंत माना गया था। उस लिहाज़ से ब्रेग्ज़िट भूमण्डलीकरण का अंत तो नहीं है, पर अंग्रेज़ों के बावन फ़ीसदी वोटों ने कम से कम उस एक हक़ीक़त को दरपेश कर दिया है जो शुरू से ही नवउदारतावाद के लच्छेदार आश्वासन के पीछे छिपाई गयी थी। नवउदारतावाद का वायदा था कि वस्तुओं, सेवाओं, श्रम, पूँजी, कौशल और विचारों के सीमाओं के आर-पार मुक्त प्रवाह का नतीजा लाज़िमी तौर पर सभी की ख़ुशहाली में निकलेगा। लंदन स्कूल ऑफ़ इकॉनॉमिक्स के एक भारतीय प्रोफ़ेसर ने इस वायदे की मौजूदा असलियत को इस तरह व्यक्त किया है : 'अगर हम सारी दुनिया पर नज़र डालें तो इस कल्पनाशीलता की धज्जियाँ उड़ी हुई दिखेंगी। 2008 के वित्तीय संकट, लम्बे दौर में लगातार ग़ैर-बराबरी बढ़ने के फ्रांसीसी अर्थशास्त्री थॉमस पिकेटी द्वारा दस्तावेज़ीकरण, पश्चिमी अर्थव्यवस्थाओं में



रोज़गार और तनख़्वाहों में आयी गिरावट ने दक्षिणपंथी लोकलुभावनवाद, विदेशी-द्वेष और दुनिया से कट कर अलग हो जाने के रुझानों को बल प्रदान किया है।'[1]

ज़ाहिर है कि भूमण्डलीकरण की चमक फीकी पड़ चुकी है। वह समय की बर्फ़ पर मुँह के बल गिरने और उग्र दक्षिणपंथ का ग्रास बनने से पहले आख़िरी बार सँभलने की जद्दोजहद में लगा है। इसीलिए अब ऐसे सुझाव भी दिये जाने लगे हैं कि ऐडम स्मिथ और कार्ल मार्क्स के बीच समन्वय स्थापित किये बिना काम नहीं चलने वाला है, इसलिए भूमण्डलीकरण को बचाने के लिए उसकी छतरी के तले एक बार फिर नये लोकोपकारी राज्य का आविष्कार करना होगा (इस तरह के सुझावों से मलिन हो चुके पुराने वामपंथ को अपने उभार की ग़लतफ़हमी नहीं पालना चाहिए)। नये लोकोपकारी राज्य की कल्पना के पीछे काम कर रहे एहसास की अभिव्यक्ति अमेरिकी दार्शनिक माइकल सेंडल के इस कथन में हो रही है, 'सबसे बड़ी नाकामियों में से एक तो यह है कि लोगों की आकांक्षाओं को गम्भीरता से नहीं लिया गया। उन्हें अपनी ज़िंदगियों को प्रभावित करने वाली ताक़तों में सार्थक हस्तक्षेप नहीं करने दिया गया।'[2]

ग्लोबल वित्तीय निज़ाम को पिछले कुछ समय से लग रहा था कि नवउदारतावाद के बुरे दिन आ चुके हैं। इस एहसास का सबूत हमें अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष (आईएमएफ़) की रपट *नियोलिबरलिज़म : ओवरसोल्ड?* से मिलता है। यह मानीख़ेज़ रपट कहती है कि अगर सामाजिक सुरक्षा और सामाजिक क्षेत्र पर राज्य द्वारा ख़र्च की जाने वाली रक़मों को बढ़ाने पर फिर से ज़ोर न दिया गया तो उसके परिणामस्वरूप बढ़ने वाली विषमता खुले बाज़ार और वृद्धि दर पर ही सबसे ज़्यादा चोट करेगी। इस रपट के ज़रिये आईएमएफ़ को स्वीकार करना पड़ा है, 'वित्तीय खुलेपन और आर्थिक वृद्धि के बीच का सूत्र जटिल है। ऐसा लगता है कि प्रत्यक्ष विदेशी निवेश सरीखे वित्तीय प्रवाह (जिसमें प्रौद्योगिकी अथवा मानवीय पूँजी का स्थानांतरण होता है) तो दीर्घकालीन वृद्धि को बढ़ाते हैं। लेकिन पोर्टफ़ोलियो इंवेस्टमेंट (शेयरों में), बैंकिंग और ख़ासकर सट्टेबाज़ी के लिए होने वाले पूँजी प्रवाह न तो वृद्धि की सम्भावनाएँ बढ़ाते हैं और न किसी देश को उसके वाणिज्य भागीदारों के जोखिम में बेहतर साझेदारी की तरफ़ ले जाते हैं। ... वृद्धि संबंधी लाभों की तो कोई गारंटी नहीं है, पर आर्थिक उथल-पुथल और संकट की बारम्बारता बढ़ने के प्रमाण स्पष्ट हैं। 1980 से ही पचास से ज़्यादा उदीयमान अर्थव्यवस्थाओं में पूँजी प्रवाह अचानक बढ़ने के डेढ़ सौ प्रकरणों का नतीजा वित्तीय संकटों में निकला है और कई संकटों के कारण उत्पादन में गिरावट आयी है।'[3] क्या 2016 में किया गया यह विश्लेषण नब्बे के दशक में किये गये उन चेतावनीपूर्ण विश्लेषणों की याद नहीं दिलाता जिनमें कहा गया था कि पूँजी का प्रवाह नियंत्रण करने की विधियाँ नहीं अपनाई गयीं तो अर्थव्यवस्थाओं को संकटग्रस्त रहने के लिए तैयार रहना चाहिए?[4]

मुश्किल यह है कि जिस आईएमएफ़ और विश्व व्यापार संगठन ने दुनिया भर को नवउदारतावादी अर्थशास्त्र पर आधारित आर्थिक मॉडल थमाए हैं, वे वक़्त के पहिये को इतनी आसानी से उल्टा नहीं घुमा सकते। भूमण्डलीकरण काफ़ी हद तक 'वन वे स्ट्रीट' रहा है। उसके द्वारा पैदा की गयी राजनीतिक-

---

[1] मैत्रीष घटक (2016), 'द स्मिथ-मार्क्स सोल्यूशन?', *द इकॉनॉमिक टाइम्स,* 28 जून.

[2] सेंडल का यह कथन केनन मलिक (2016) के लेख से, 'अ व्यू ऑफ़ द चास्म', *द इण्डियन एक्सप्रेस,* 2 जुलाई.

[3] जोनाथन डी'ऑस्ट्री, प्रकाश लौंगानी और डेवाइड फ़रसेरी (2016), 'नियोलिबरलिज़म ओवरसोल्ड?', *आईएमएफ़ फ़ाइनेंस ऐंड डिवेलपमेंट,* खण्ड 53, अंक 2 : 38-41. ये तीनों अर्थशास्त्री आईएमएफ़ के रिसर्च डिपार्टमेंट से ताल्लुक़ रखते हैं. https://www.imf.org/external/pubs/ft/fandd/2016/06/pdf/ostry.pdf पर उपलब्ध, 28 जून, 2016 को देखा गया.

[4] इस प्रकार की एक सरल-सहज चेतावनीपरक कृति के लिए देखें, कंवलजीत सिंह (1999), *पूँजी का भूमण्डलीकरण : कैसे लड़ें?,* अनु. : अभय कुमार दुबे, ऋतिका प्रकाशन, दिल्ली.

सांस्कृतिक-सामाजिक-आर्थिक विकृतियों की क़ीमत नवउदारतावाद को गर्हित क़िस्म के उग्र और फूहड़ नवदक्षिणपंथ में पतित हो कर चुकानी पड़ रही है। ब्रिटेन के हालात देख कर भी जिसकी समझ में यह न आ रहा हो, उसे अगले चुनाव के बाद फ्रांस में और शायद उससे भी पहले जर्मनी के घटनाक्रम में या अमेरिका की ट्रम्प परिघटना के सम्भावित परिणामों को भुगतने के लिए तैयार रहना चाहिए। भूमण्डलीकरण उदारतावादी युरोप को जिस खाई में धकेल रहा है, उसकी गहराइयाँ द्वितीय विश्व-युद्ध की तरफ़ जाने वाले युरोप की तरफ़ इशारा करती हैं। ये इशारे इतने साफ़ हैं कि अब इनसे मुँह नहीं चुराया जा सकता, इसलिए चेतावनियाँ वामपंथी ख़ेमे की तरफ़ से नहीं बल्कि पूँजीवाद के गढ़ों से आ रही हैं। मसलन, मैसाचुसेट्स इंस्टीट्यूट फ़ॉर टेक्नालॅजी के एक विद्वान ने आगाह किया है कि 'दुनिया के इन सबसे ज़्यादा अमीर देशों में लोकतंत्र आज की तरह दुर्बल बीस के दशक में लगा था, और हम जानते हैं कि उसके बाद क्या हुआ था। ब्रिटेन में यूकेआईपी के उदय से लेकर फ्रांस में लझली पेन तक और ऑस्ट्रिया में फ्रीडम पार्टी के उदय से लेकर अमेरिका में डोनाल्ड ट्रम्प तक हर जगह घोर दक्षिणपंथ सिर उठा रहा है और हम साँस रोक कर प्रतीक्षा कर रहे हैं कि आगे क्या होने वाला है।' यह एक ऐसा दक्षिणपंथ है जिससे कंज़रवेटिव (परम्परानिष्ठ) तत्त्वों को भी उबकाई आती है।[5]

■ ऐसे सुझाव भी दिये जाने लगे हैं कि ऐडम स्मिथ और कार्ल मार्क्स के बीच समन्वय स्थापित किये बिना काम नहीं चलने वाला है, इसलिए भूमण्डलीकरण को बचाने के लिए उसकी छतरी के तले एक बार फिर नये लोकोपकारी राज्य का आविष्कार करना होगा।

■ भारतीय अर्थव्यवस्था के विशाल मंच पर चल रहे नाटक का तात्पर्य ग्रहण करने से न सिर्फ़ हमें भूमण्डलीकरण के फीके पड़ते हुए चेहरे की शिकनों का पता चल सकता है, बल्कि ... अपने देश के आने वाले राजनीतिक-आर्थिक संकट का एक अनुमान भी लग सकता है।

■ आज राजनीति के मंचों पर होने वाली बहसों में ऐसे मुद्दे भी शामिल हैं कि रिज़र्व बैंक का गवर्नर कैसा होना चाहिए, या प्रमुख आर्थिक सलाहकार पद पर बैठा हुआ अर्थशास्त्री पूरी तरह से राष्ट्रवादी है या नहीं, या केंद्र सरकार के वित्त सचिव का चरित्र कैसा है, या बैंकों के हज़ारों करोड़ रुपए लेकर विदेश भागने वाले उद्योगपतियों से सरकार को कैसे निबटना चाहिए ...।

समस्या यह है कि अर्थव्यवस्थाएँ संशोधनकारी क़दम उठाने और एक नये लोकोपकारी राज्य की रचना की तरफ़ जाने के बजाय लीपापोती में लगी हुई हैं। हालाँकि नवउदारतावाद की एक्सपायरी डेट निकलने ही वाली है और उसके केक से सड़ने की शुरुआती बदबू भी आने लगी है, पर वे उसकी सतह पर क्रीम और स्ट्राबेरी की नयी परत सजाने में व्यस्त हैं। यह नयी परत वृद्धि दर (ग्रोथ रेट) के नये आँकड़ों के रूप में सामने आ रही है। तुर्की और नाइजीरिया ने हाल के ही कुछ वर्षों में अपनी आर्थिक वृद्धि के आँकड़ों में कुछ इस तरह से संशोधन किया है कि वे अचानक बहुत आकर्षक लगने लगे हैं। दरअसल, वृद्धि दर नापने की विधि और पद्धति में कुछ ऐसा परिवर्तन किया गया है कि इन देशों में आर्थिक बहबूदी कम से कम दो से तीन फ़ीसदी ज़्यादा निकल आये, ताकि वहाँ की सरकारें जनता को आने वाली अमीरी का ख़्वाब कुछ दिन और बेच सकें।[6] फ़र्ज़ी ग्रोथ रेट दिखा कर वाहवाही लूटने का यह हथकण्डा सबसे पहले चीन ने आजमाया था। मोर्गन स्टेनली के मुख्य रणनीतिकार और उदीयमान

[5] देखें, अभिजित बनर्जी (2016), डेमॉक्रैसी इन डॉलड्रम्स', *द हिंदुस्तान टाइम्स*, 25 जून.

[6] कभी आईएमएफ़ ने ही अपने सदस्य देशों को यह राय दी थी कि हर पाँच साल बाद उन्हें अपना कुल घरेलू उत्पाद (जीडीपी) नापने का आधार-वर्ष बदलना चाहिए ताकि इस दौरान होने वाली नयी आर्थिक गतिविधियाँ भी जीडीपी का अंग बनाई जा सकें. लेकिन इस राय का दुरुपयोग करते हुए तथाकथित रूप से 'उदीयमान बाज़ारों' के राजनीतिक निर्देशकों ने आँकड़ों की बाजीगरी के रिकॉर्ड तोड़ दिये हैं.

बाज़ारों के पोर्टफ़ोलियो के इंचार्ज रुचिर शर्मा के अनुसार जैसे ही चीन में वृद्धि दर घोषित लक्ष्य से घटती थी, वैसे ही उसका स्टैटिस्टिकल डिपार्टमेंट कोई गुंताड़ा फ़िट करके वास्तविक दर बढ़ा दिया करता था।[7] चीन की यह चालाकी कई साल तक चलती रही। उसे विश्व अर्थव्यवस्था के नये लीडर की तरह पेश किया जाता रहा। अब स्थिति यह है कि नवउदारतावादी चरित्र वाले 'बाज़ार समाजवाद' के सारे फ़ॉर्मूलों की चूलें हिल गयी हैं, और चीन की अर्थव्यवस्था में मंदी के क़दम इतने गहरे जम चुके हैं कि आँकड़ों की कोई बाज़ीगरी उसके काम नहीं आ रही है।

तो, एक तरफ़ भूमण्डलीकरण के ग्लोबल सरबराह अपने बुनियादी विचार की दुर्गति से चिंतित हो कर बचाव की पेशबंदी कर रहे हैं, और दूसरी तरफ़ अब तक उनकी राय पर चलने वाले देश उसी छल को तरोताज़ा रखने की जुगाड़ में हैं जिसके ज़रिये अस्सी के दशक से विश्व जनमत को भरमाया जाता रहा है। यह स्थिति हम भारतवासियों के लिए भी चिंता का सबब है, क्योंकि जिस उत्साह से चीन, तुर्की और नाइज़ीरिया जैसे देशों ने अपनी अर्थव्यवस्था की 'विंडो ड्रेसिंग' की है, पिछले दो साल में भारत के नवउदारतावादी आर्थिक प्रबंधकों ने उसे भी अपनी करामात से पीछे छोड़ दिया है। दरअसल, भारतीय अर्थव्यवस्था के विशाल मंच पर चल रहे नाटक का तात्पर्य ग्रहण करने से न सिर्फ़ हमें भूमण्डलीकरण के फीके पड़ते हुए चेहरे की शिकनों का पता चल सकता है, बल्कि अगर इस पर केवल सूचनात्मक विश्लेषण करने के बजाय विमर्शात्मक लहज़े में भी विचार करें तो अपने देश के आने वाले राजनीतिक-आर्थिक संकट का एक अनुमान भी लग सकता है। इस प्रश्न पर विचार करने का एक लाभ और है। इसके ज़रिये सम्भवत: हम उस नये परिप्रेक्ष्य को प्राप्त करने की तरफ़ भी बढ़ सकते हैं जो प्रचलित वामपंथी विचार, गाँधीवाद और यहाँ तक कि संघ-स्वदेशी[8] के औज़ारों द्वारा अभी तक की गयी भूमण्डलीकरण की आलोचनाओं के ज़रिये हमें प्राप्त नहीं हो पाया है।

इस सिलसिले की शुरुआत 2015 में भारत के केंद्रीय सांख्यिकीय कार्यालय (सीएसओ) द्वारा नैशनल एकाउंट स्टैटिस्टिक्स की नयी शृंखला जारी करने के साथ हुई थी। आईएमएफ़ की अनुशंसा के मुताबिक़ सीएसओ द्वारा वृद्धि दर नापने का आधार-वर्ष 2004-05 से बदल कर 2011-12 कर दिया गया। नतीजे नाटकीय निकले। 2013-14 की वृद्धि दर जो पुरानी शृंखला के मुताबिक़ महज़ 4.7 फ़ीसदी थी, वह नयी घोषणा के मुताबिक़ 6.6 बताई जाने लगी। इसी के अनुसार जब 2014-15 की वृद्धि दर का अग्रिम तख़मीना लगाया गया तो वह 7.4 प्रतिशत निकल आयी। डेटा मैनेजमेंट का यह कमाल जारी रहा और 2015-16 की वृद्धि दर 7.6 दिखाई गयी। आईएमएफ़ से लेकर मोर्गन स्टेनली के अर्थशास्त्रियों तक और रिज़र्व बैंक के पूर्व (वाई.बी. रेड्डी) व वर्तमान (रघुराम राजन) गवर्नरों और सरकार के मुख्य आर्थिक सलाहकार अरविंद सुब्रह्मण्यम से लेकर आर्थिक अनुसंधान केंद्रों में कार्यरत अर्थशास्त्रियों (जैसे, आर. नागराज और अरुण कुमार) तक ने इस आँकड़ा प्रबंधन पर संदेह और आपत्तियाँ दर्ज कराईं। आर्थिक पत्रकारों (जैसे, अभीक बर्मन) ने तो इन आँकड़ों से जम कर मोर्चा लिया।

जो सरकार पहले इस उपलब्धि पर संतोषपूर्वक अपनी पीठ ठोक रही थी, उसके आर्थिक प्रबंधक और अन्य पैरोकार (जैसे, निटि आयोग के सदस्य विवेक देबराय, सुरजीत भल्ला और मुख्य स्टेटीशियन टी.सी.ए. अनंत) इन आलोचनाओं के आते ही मीडिया में अपने आँकड़ों को सही बताने

---

[7] देखें, रुचिर शर्मा (2015), '6.9 %? वर्ल्ड इज़ लाफ़िंग एट दिस बैड जोक', *द टाइम्स ऑफ़ इण्डिया,* 22 फ़रवरी.

[8] यहाँ प्रचलित वामपंथी विचार का अर्थ है वर्ल्ड सोशल फ़ोरम जैसे प्रकरणों से निकली भूमण्डलीकरण की आलोचना, प्रचलित गाँधीवाद से मतलब है आज़ादी बचाओ आंदोलन जैसे प्रयास और संघ-स्वदेशी का मतलब है स्वदेशी जागरण मंच द्वारा की जाने वाली आलोचना. संघ-स्वदेशी की अभिव्यक्ति के लिए मैं दिवंगत डी.आर.नागराज का कृतज्ञ हूँ.

में जुट गये। नतीजतन, भारत के आर्थिक इतिहास में पहली बार खुली अर्थव्यवस्था के बारे एक इस तरह की बहस शुरू हो गयी जिसका मक़सद यह पता लगाना था कि उदारीकरण, निजीकरण और भूमण्डलीकरण के औज़ारों से हुई हमारी आर्थिक उपलब्धियों में कितना दूध है और कितना पानी। पिछले दो साल में इस बहस के भीतर जमा होने वाली तल्ख़ी की मात्रा इतनी ज़्यादा बढ़ चुकी है कि अब वह ऊपर से रिस-रिस कर संसदीय राजनीति को भी प्रभावित करने लगी है।

ध्यान रहे कि पहले अर्थव्यवस्था संबंधी मसलों पर जो बहस होती थी, उसके केंद्र में नवउदारतावाद का वैचारिक विरोध या समर्थन होता था। इसके कारण छवि यह बनती थी कि नब्बे के दशक से पहले वाली नीतियों के पैरोकार नयी अर्थनीतियों को लागू करने वालों से टकरा रहे हैं। पर इस बहस में कोई नवउदारतावाद के विरोध में नहीं बोल रहा है। यही कारण है कि आज राजनीति के मंचों पर होने वाली बहसों में ऐसे मुद्दे भी शामिल हैं कि रिज़र्व बैंक का गवर्नर कैसा होना चाहिए, या प्रमुख आर्थिक सलाहकार पद पर बैठा हुआ अर्थशास्त्री पूरी तरह से राष्ट्रवादी है या नहीं, या केंद्र सरकार के वित्त सचिव का चरित्र कैसा है, या बैंकों के हज़ारों करोड़ रुपए लेकर विदेश भागने वाले उद्योगपतियों से सरकार को कैसे निबटना चाहिए या वसूल न हो सकने वाले कर्ज़ों (नॉन परफ़ार्मिंग एसेट्स या एनपीए) के भीषण बोझ से भारतीय बैंकिंग प्रणाली को कैसे बचाया जाए। पहले लोकप्रिय राजनीतिक विमर्श में आमतौर पर केवल काले धन का मसला रहता था जो आजकल पहले के किसी भी समय के मुक़ाबले मुखर और तीखा रूप ले कर बच्चे-बच्चे की ज़ुबान पर चढ़ चुका है। थोड़े समझदार लोग तो यह भी पूछने लगे हैं कि खुले बाज़ार की नीतियाँ अपनाने के बाद जिन भारतीय अरबपतियों की संख्या बढ़ी है उनकी कमाई नेकी के ज़रिये प्राप्त आमदनी की श्रेणी में रखी जानी चाहिए या बदी के ज़रिये प्राप्त आमदनी की जाने वाली आमदनी की श्रेणी में।[9] यहाँ नेक आमदनी का मतलब है वैध औद्योगिक और मैन्युफ़ैक्चरिंग गतिविधियों के ज़रिये होने वाली कमाई (जैसे टीवी, फ्रिज, औषधि या अन्य ज़रूरत का सामान बनाने के उद्यम), और बद आमदनी का मतलब है राजनीतिक सम्पर्कों और लॉबिंग के ज़रिये कमाया जाने वाला माल (जैसे ज़मीन-जायदाद का धंधा और खनन)। ज़ाहिर है कि आर्थिक विमर्श की बढ़ती लोकप्रियता के कारण आम समझदार लोग भी 'क्रॉनी कैपिटलिज़म' और देश के लिए हितकारी औद्योगिक गतिविधियों के बीच इसी तरह से अंतर करना सीख गये हैं।

मोदी सरकार के आर्थिक प्रबंधकों ने 7.6 प्रतिशत की वृद्धि दर दिखाने का जो कारनामा किया है, उसका अकादमीय रूप से सर्वाधिक मुखर विरोध करने वालों में प्रोफ़ेशनल सांख्यिकीविदों और भूमण्डलीकरण के समर्थकों की संख्या ही ज़्यादा है। जनोन्मुख अर्थनीतियों का तर्क देने वाले अरुण कुमार जैसे अर्थशास्त्रियों की संख्या उनमें कम है। भारत के इस ग्रोथ रेट का मज़ाक उड़ाते हुए रहस्य खोलने में ब्लूमबर्ग जैसी साइट्स तो हैं ही, भारत में विशेषज्ञों ने इसके बखिये उधेड़ दिये हैं।[10] इस आलोचना से पता चला है कि जीडीपी नापने की नयी विधि में निगेटिव डीफ़्लेटरों का इस्तेमाल किया गया है। मौजूदा दामों पर जो सकल मूल्यवर्धन नापना होता है, उसे आधार वर्ष यानी 2011-12 के मूल्यों के पैमाने पर डिफ़्लेट या घटाना पड़ता है। ऐसे में एक डिफ़्लेटर का चुनाव करना ज़रूरी हो जाता है। स्थिति यह है कि वाणिज्य, होटल, परिवहन, संचार आदि क्षेत्रों में सकल मूल्यवर्धन 6.6

[9] यह दिलचस्प तथ्य है कि बाज़ारवादी अर्थशास्त्र की यह लोकप्रिय समझ ग्लोबल आर्थिक समीक्षकों की रचनाओं में भी अभिव्यक्त होने लगी है। देखें, रुचिर शर्मा (2016), 'इण्डिया इज़ नाउ मोस्ट हैवीली हायप्ड इमर्जिंग इकॉनॉमी', *द टाइम्स ऑफ़ इण्डिया,* 25 जून.

[10] इस पर विस्तार से अध्ययन के लिए देखें, आर. नागराज (2015), 'साइज़ ऐंड स्ट्रक्चर ऑफ़ इण्डियाज़ प्राइवेट कॉरपोरेट सेक्टर : इम्प्लीकेशंस फ़ॉर द न्यू जीडीपी सीरीज़', *इकॉनॉमिक ऐंड पॉलिटिकल वीकली,* खण्ड 40, अंक 45. मुम्बई के इंदिरा गाँधी इंस्टीट्यूट ऑफ़ डिवेलपमेंट रिसर्च में कार्यरत नागराज इस विषय पर लगातार शोध कर रहे हैं.

से 7.4 फ़ीसदी हुआ है। जैसे ही निगेटिव डिफ़्लेटर इस्तेमाल किये जाते हैं, वैसे ही इसका अनुवाद 9 से 10.3 फ़ीसदी की वृद्धि दर में निकल आता है। प्रश्न यह उठाया जा रहा है कि जब पूरे साल अर्थव्यवस्था में मुद्रास्फीति का आँकड़ा 4.9 फ़ीसदी रहा, तो फिर इन क्षेत्रों में मुद्रास्फीति नकारात्मक कैसे हो सकती है? कुल मिला कर इस विश्लेषण से हमारे प्राइवेट कॉरपोरेट सेक्टर का जो ढाँचा सामने आया है वह अर्थशास्त्रियों के लिए तो चौंका देने वाला नहीं है, लेकिन इससे इस आर्थिक विमर्श के नये भागीदार ज़रूर चौंक गये हैं।

दरअसल, आर.के. हज़ारी ने 1966 में ही भारतीय कॉरपोरेट जगत इस ढाँचे की अपनी क्लासिक स्टडी के ज़रिये ये बातें बता दी थीं।[11] मुख्य बात यह है कि जिस कॉरपोरेट दुनिया को आर्थिक वृद्धि की चालक शक्ति के रूप में पेश किया जाता है, उसी के आकार को बढ़ा-चढ़ा कर दिखाने के ज़रिये ही यह वृद्धि दर हासिल की गयी है। कुल घरेलू उत्पाद नापने के लिए नयी शृंखला के तहत नौ लाख ऐसी कम्पनियों को उत्पादन करते हुए मान लिया गया है जो दरअसल निष्क्रिय पड़ी हुई हैं या 'खोखा कम्पनियाँ' हैं। इनमें से ज़्यादातर का काम बड़ी सक्रिय कम्पनियों के साथ नेटवर्किंग से जुड़ कर काला माल सफ़ेद करने और कमीशनख़ोरी करने के अलावा कुछ नहीं है।[12] कॉरपोरेट सेक्टर शुरू से ही इस तरह के कम्पनी नेटवर्क में जीता-पनपता है। फ़र्क़ केवल यह है कि 1990 में शुरू हुए भूमण्डलीकरण के बाद कम्पनियों का रजिस्ट्रेशन कई गुणा बढ़ गया है और यह फ़र्ज़ीवाड़ा भी उसी के मुताबिक़ कई गुणा हो चुका है।

यह मानना होगा कि जीडीपी नापने की नयी विधि अपनाने का विचार मोदी सरकार की देन नहीं है। यह ख़याल सबसे पहले मनमोहन सिंह की सरकार को आया था कि गिरती हुई वृद्धि दर को बढ़ा-चढ़ा कर दिखाने का सबसे आसान तरीक़ा यह है कि वृद्धि नापने की विधि ही बदल दी जाए। लेकिन, कांग्रेस की सरकार चाहते हुए भी अपनी कुख्यात निष्क्रियता के कारण यह नहीं कर पाई।

अपनी सक्रियता को सीने पर तमग़े की तरह पहनने वाली मोदी सरकार ने पहले मौक़े पर ही यह कर दिखाया। वित्त मंत्री अरुण जेटली ने 2015 में ही चीन की धीमी होती हुई वृद्धि दर को देख कर कहना शुरू कर दिया था कि भारत की रफ़्तार उसके मुक़ाबले बढ़ सकती है और भारत ग्लोबल अर्थव्यवस्था की चालक शक्ति बन सकता है, हालाँकि यह दावा ख़ासा पुरमज़ाक था। वजह साफ़ थी। भारत ग्लोबल जीडीपी का कुल 2.5 फ़ीसदी पैदा कर रहा था, जबकि पहले के मुक़ाबले धीमी रफ़्तार से सही पर चीन इस जीडीपी में 13.5 फ़ीसदी का भारी-भरकम योगदान कर रहा था। *फ़ाइनेंशियल टाइम्स* के टिप्पणीकार डेविड पिलिंग के शब्दों में यह दावा चूहे द्वारा ट्रैक्टर खींचने की शेख़ी बघारने जैसा ही था।[13]

चीन को पीछे छोड़ने के मुग़ालते के अतिरिक्त नयी भारत सरकार बढ़े-चढ़े आँकड़ों के ज़रिये एक और काम करना चाहती थी। यह था भारत की ब्रैण्ड वैल्यू बढ़ाना। किसी उत्पाद या कम्पनी की ब्रैण्ड वैल्यू निकालना आसान है, क्योंकि उसे होने वाली आमदनी के सिलसिले को वाणिज्यिक रूप से परिभाषित किया जा सकता है। लेकिन, किसी देश या राष्ट्र की ब्रैण्ड वैल्यू निर्धारित करने का कोई सिक्काबंद फ़ॉर्मूला उपलब्ध नहीं है। फिर भी बाज़ारवाद के ज़माने में हर चीज़ को ब्रैण्ड के रूपक में देखने का चलन बन गया है।

---

[11] आर.के. हज़ारी (1966), *स्ट्रक्चर ऑफ़ द कॉरपोरेट प्राइवेट सेक्टर : कंसंट्रेशन, ओनरशिप ऐंड कंट्रोल,* एशिया पब्लिसिंग हाउस, बम्बई.

[12] अविनाश सेलेस्शियन ने 2013-14 में *द इक्नॉमिक टाइम्स* में लेखों के ज़रिये खोखा कम्पनियों की कारगुज़ारियों पर पड़ा पर्दा उठाया था.

[13] डेविड पिलिंग (2015), 'दे डेंजर्स इन डेलहीज़ ड्रीम ऑफ़ ओवरटेकिंग चाइना', *फाइनेंशियल टाइम्स,* 9 सितम्बर, http://www.ft.com/ cms/s/0/933ca4ba-5620-11e5-9846-de406ccb37f 2.html#axzz4 Ct4pA5cC पर उपलब्ध, 28 जून, 2016 को देखा गया.

ब्रैण्ड फ़ाइनेंस नामक वेब साइट राष्ट्रों की ब्रैण्ड वैल्यू प्रकाशित करती है जो ब्रैण्ड स्ट्रेंथ इण्डेक्स पर निर्भर है। यह सूचकांक किसी अर्थव्यवस्था के तीन पहलुओं पर नज़र डालता है। वह देखता है कि उस देश में अधिसंरचनात्मक सुविधाओं और सक्षमता की स्थिति क्या है, उसकी ब्रैण्ड इक्विटी का स्तर क्या है, और उसका आर्थिक प्रदर्शन कैसा है। इन तीनों आधारों की रचना में और भी कई कारकों पर ध्यान दिया जाता है। मसलन, उस देश की श्रम-शक्ति की क्वालिटी, विदेशी प्रतिभाओं को आकर्षित करने की क्षमता, अर्थव्यवस्था की वृद्धि दर, दुनिया उसके बारे में क्या सोच रही है और उसके द्वारा परोसे गये आँकड़ों की विश्वसनीयता, आदि। सरकार ने सोचा होगा कि सरकारी पार्टी यानी भाजपा के साम्प्रदायिक एजेण्डे के कारण अंतर्राष्ट्रीय छवि के स्तर पर जो नुक़सान हो रहा है, उसकी भरपाई बढ़ी हुई वृद्धि दर से हो सकता है। उसकी यह समझ ठीक थी, पर वृद्धि दर निज आँकड़ों से बढ़ाई गयी थी, उनका विश्वसनीय होना भी ज़रूरी था। नतीजा यह निकला कि 189 देशों की इण्डेक्स में भारत को 130वीं स्थिति ही हासिल हो पाई, वह भी तब जब उसे बारह पायदानों की तरक़्क़ी दी गयी।[14]

दरअसल, जीडीपी के आँकड़ों में यह संशोधन करते समय हमारे आर्थिक प्रबंधकों ने एक ज़रूरी बात का ख़्याल नहीं रखा। वे अपने आँकड़ों का 'स्मेल टेस्ट' करना भूल गये। यह स्मेल टेस्ट क्या है?

यह एक ऐसा टेस्ट है जिसके मुताबिक़ निकाली गयी वृद्धि दर को आयात-निर्यात, औद्योगिक निवेश के लिए बैंकों से लिए जाने वाले कर्ज़, विभिन्न क्षेत्रों में उत्पादन, प्रति व्यक्ति आमदनी यानी लोगों द्वारा उपभोग पर ख़र्च की जाने वाली रक़म और निवेश के आँकड़ों की कसौटी पर ख़रा उतरना पड़ता है। असलियत यह है कि घोषित वृद्धि दर इन सभी कसौटियों पर विफल नज़र आती है।

> ■ जिस कॉरपोरेट दुनिया को आर्थिक वृद्धि की चालक शक्ति के रूप में पेश किया जाता है, उसी के आकार को बढ़ा-चढ़ा कर दिखाने के ज़रिये ही यह वृद्धि दर हासिल की गयी है। कुल घरेलू उत्पाद नापने के लिए नयी शृंखला के तहत नौ लाख ऐसी कम्पनियों को उत्पादन करते हुए मान लिया गया है जो दरअसल निष्क्रिय पड़ी हुई हैं या 'खोखा कम्पनियाँ' हैं।
>
> ■ वृद्धि दर निज आँकड़ों से बढ़ाई गयी थी, उनका विश्वसनीय होना भी ज़रूरी था। नतीजा यह निकला कि 189 देशों की इण्डेक्स में भारत को 130वीं स्थिति ही हासिल हो पाई, वह भी तब जब उसे बारह पायदानों की तरक़्क़ी दी गयी।
>
> ■ भारत ग्लोबल जीडीपी का कुल 2.5 फ़ीसदी पैदा कर रहा था, जबकि पहले के मुक़ाबले धीमी रफ़्तार से सही पर चीन इस जीडीपी में 13.5 फ़ीसदी का भारी-भरकम योगदान कर रहा था। *फ़ाइनेंशियल टाइम्स* के टिप्पणीकार डेविड पिलिंग के शब्दों में यह दावा चूहे द्वारा ट्रैक्टर खींचने की शेख़ी बघारने जैसा ही था।

स्मेल टेस्ट पूछता है कि अगर पिछले एक साल में भारत के लोगों ने निजी उपभोग में 1,27,000 करोड़ रुपए ज्यादा ख़र्च किये हैं, तो वह हम सब लोगों के जीवन-स्तर में इज़ाफ़े के तौर पर दिखता क्यों नहीं है? वह सवाल उठाता है कि अगर अर्थव्यवस्था इतने शानदार तरीक़े से आगे बढ़ रही है तो फिर पिछले साल निवेश में 17,000 करोड़ रुपये की गिरावट क्यों आयी है?[15] क्या यह सच्चाई

---

[14] देखें, *ब्रैण्ड फ़ाइनेंस : नेशन ब्राण्ड्स 2015, द एनुअल रिपोर्ट ऑन वर्ल्ड्स मोस्ट वेल्युएबिल नेशन ब्राण्ड्स,* अक्टूबर, 2015, http://brand-finance. com/images/upload/brand_finance_nation_brands_2015.pdf पर उपलब्ध, 28 जून, 2016 को देखा गया.

[15] अभीक बर्मन (2016), 'ऐट 7.6 % इण्डिया इज़ अ फ़ास्टेस्ट ग्रोइंग इकॉनॉमी ऑर द बेस्ट डेटा फ़जर?', *द इकॉनॉमिक टाइम्स,* 3 जून.

नहीं है कि भारत के निजी क्षेत्र के पास सात लाख करोड़ रुपये की आरक्षित नक़दी है, पर फिर भी वह इसकी एक पाई भी निवेश करने के लिए तैयार नहीं है? इसी तरह भारत की अमीर पब्लिक सेक्टर कम्पनियों के पास पाँच लाख करोड़ रुपये की आरक्षित नक़दी है, पर वे भी कोई बड़ा निवेश नहीं करने जा रही हैं। इसीलिए यह पूछना स्वाभाविक है कि अगर हमारा आर्थिक वर्तमान इतना ही बेहतरीन है तो आईआईएम और आईआईटी के कैम्पस प्लेसमेंटों में इतनी गिरावट क्यों आ गयी है कि वहाँ के छात्रों को हड़ताल करनी पड़ रही है? यह पूछना इसलिए भी ज़रूरी है कि फ़्लिपकार्ट और लारसन ऐंड टुबरो जैसी प्रतिष्ठित कम्पनियाँ अपने वायदे के मुताबिक़ प्लेसमेंट की नौकरियाँ क्यों नहीं दे पा रही हैं? यह सवाल पूछना तो अब लाज़िमी हो गया है कि सभी सरकारी बैंक हज़ारों करोड़ के घाटे में क्यों चल रहे हैं, और क्या कथित रूप से आगे बढ़ती हुई अर्थव्यवस्था और दुर्गति का शिकार हो रहे बैंक हमारे सामने एक विकट विरोधाभास नहीं पेश करते?

हाल ही में नेट पर प्रकाशित मुकेश त्यागी के विस्तृत विश्लेषण में[16] इस स्मेल टेस्ट की कसौटी पर सरकारी वृद्धि दर बुरी तरह से विफल होती नज़र आ रही है। त्यागी ने अपने विश्लेषण में जिन आँकड़ों का इस्तेमाल किया है, उनका स्रोत या तो सरकार है या फिर संयुक्त राष्ट्र की एजेंसियाँ। इसके मुताबिक़ 'कृषि में दिखाई जाने वाली वृद्धि दर 2.3% भी शक के दायरे में है, क्योंकि देश के लगभग एक-तिहाई हिस्से में दो साल से भयंकर सूखा चल रहा है, जबकि कृषि में ऐसी वृद्धि सिर्फ़ अच्छे मानसून के सालों में ही देखी गयी है। ... सरकार कहती है कि गेहूँ का उत्पादन बढ़कर 86 लाख टन हुआ है लेकिन मण्डियों में अब तक पिछले वर्ष के 29 लाख टन के मुक़ाबले 25 लाख टन गेहूँ ही आया है। तो फिर बढ़ा हुआ उत्पादन कहाँ गया! ... कृषि में इस 2.3% वृद्धि को आज की स्थिति में सभी कृषि विशेषज्ञ अविश्वसनीय मान रहे हैं। ...

'बैंक क्रेडिट में वृद्धि पिछले वर्ष 8-9% रही है जिसका बड़ा हिस्सा पर्सनल/हाउसिंग/क्रेडिट कार्ड कर्ज़ का है, औद्योगिक नहीं। अप्रैल में तो औद्योगिक कर्ज़ में वृद्धि शून्य है! ... स्थायी पूँजी निर्माण 17 हज़ार करोड़ घट गया है अर्थात् नये पूँजी निवेश के मुक़ाबले पूँजी ह्रास ज़्यादा है। असल में कोई भी पूँजीपति सरकार के नारों के असर में या किसी झोंक में आकर उद्योग नहीं लगाता। उद्योग लगाने का मक़सद होता है अधिक से अधिक मुनाफ़ा। अगर मुनाफ़े का भरोसा न हो तो किसी योजना या नारे की घोषणा से कुछ नहीं होता। इसीलिए प्रधानमंत्री मोदी की मेक इन इण्डिया, स्टार्ट अप, स्टैण्ड अप, आदि सब योजनाएँ तो गयीं पानी में! ...'

त्यागी का विश्लेषण जिस पहलू की तरफ़ सबसे ज़्यादा ध्यान खींचता है, वह है अर्थव्यवस्था की रोज़गारपरकता। उनके मुताबिक़ 'पिछले 8 वर्षों में वर्ष 2015 में अर्थव्यवस्था के आठ सबसे ज़्यादा रोज़गार देने वाले उद्योगों में सबसे कम केवल 1.35 लाख नये रोज़गार ही पैदा हुए। सरकारी लेबर ब्यूरो की रिपोर्ट के अनुसार इसके मुक़ाबले 2013 में 4.19 लाख और 2014 में 4.21 लाख नये रोज़गार सृजित हुए थे। अगर लेबर ब्यूरो के आँकड़ों को ग़ौर से देखें तो दरअसल पिछले साल की दो तिमाहियों यानी अप्रैल-जून और अक्टूबर-दिसम्बर, 2015 में क्रमश: 0.43 व 0.20 लाख रोज़गार कम हो गये! रिज़र्व बैंक के एक अध्ययन पर आधारित यह विश्लेषण क़ाबिल-ए-ग़ौर है कि 1999-2000 में अगर जीडीपी 1% बढ़ती थी तो रोज़गार में भी 0.39% का इज़ाफ़ा होता था। 2014-15 तक आते-आते स्थिति यह हो गयी कि 1% जीडीपी बढ़ने से सिर्फ़ 0.15% रोज़गार बढ़ता है। मतलब जीडीपी बढ़ने, पूँजीपतियों का मुनाफ़ा बढ़ने से अब लोगों को रोज़गार नहीं मिलता। इसलिए जब

[16] मुकेश त्यागी (2019), 'अच्छे दिनों की बुरी हक़ीक़त', *मज़दूर बिगुल,* जून, http://www.mazdoorbigul.net/archives/10154 पर उपलब्ध, 28 जून, 2016 को देखा गया.

कॉरपोरेट मीडिया अर्थव्यवस्था में तेज़ी–खुशहाली बताए तो भी उससे आम लोगों को ख़ुश होने की कोई वजह नहीं बनती। संयुक्त राष्ट्र की एक रिपोर्ट के अनुसार 1991–2013 के बीच भारत में 30 करोड़ रोज़गार चाहने वालों में से आधे से भी कम अर्थात् 14 करोड़ को ही काम मिल सका। जिनको काम मिला भी उनमें से 60% को साल भर काम नहीं मिलता। कुल रोज़गार में से सिर्फ़ सात प्रतिशत ही संगठित क्षेत्र में हैं बाक़ी 93% असंगठित क्षेत्र के कामगारों को न कोई निश्चित मासिक वेतन मिलता है, और न ही प्रोविडेंट फ़ण्ड आदि कोई अन्य लाभ। 2015 में नयी कम्पनियाँ स्थापित होने की दर घट कर 2009 के स्तर पर पहुँच गयी है। अप्रैल, 2016 में दो हज़ार से भी कम नयी कम्पनियाँ रजिस्टर हुईं, जबकि पिछले दशक में हर महीने औसतन छह हज़ार कम्पनियाँ रजिस्टर होती थीं। पूँजीवादी व्यवस्था में नयी कम्पनियाँ नहीं आएँगी तो रोज़गार कहाँ से मिलेगा? इसके अलावा कम्पनियों का आकार घट रहा है। 1991 में 37% कम्पनियाँ दस से ज़्यादा लोगों को रोज़गार देती थीं, लेकिन अब सिर्फ़ 21% कम्पनियाँ ही ऐसी हैं।'

यहाँ स्पष्ट करना ज़रूरी है कि अर्थव्यवस्था की इस ढीली हालत का सिलसिला पिछली कांग्रेस सरकार के ज़माने से ही चला आ रहा है। मनमोहन सिंह के प्रधानमंत्रित्व में पहले पाँच साल नौ फ़ीसदी के आसपास की वृद्धि दर के लिए जाने जाते हैं (जो नापने की नयी तरक़ीब के हिसाब से बारह फ़ीसदी बैठती है), पर यह अवधि रोज़गारहीन वृद्धि की थी। इस दौरान नयी नौकरियाँ नहीं मिलीं, पर दूसरे पाँच वर्षों में तो लगी–लगाई नौकरियाँ जाने भी लगीं। अरुण माइरा द्वारा किये गये एक विश्लेषण के अनुसार 2000 से 2010 के बीच जब ग्लोबल स्तर पर रोज़गार प्रत्यास्थता (इलास्टिसिटी) 0.3 थी, तो भारतीय अर्थव्यवस्था में यही प्रत्यास्थता 0.2 दिख रही थी। ध्यान रहे कि सदी की शुरुआत के पहले पाँच वर्षों में यह रोज़गार प्रत्यास्थता 0.44 थी जो 2010 तक आते–आते 0.01 रह गयी। इसका सीधा मतलब था कि भारतीय अर्थव्यवस्था इस समय तक शून्य रोज़गार पैदा करने की स्थिति में पतित हो चुकी थी।[17]

मोदी के नेतृत्व में गुज़रे दो सालों में मनमोहन के नेतृत्व में गुज़रे दो साल भी जोड़े जाने चाहिए और फिर देखा जाना चाहिए कि इस लम्बी अवधि में औद्योगिक क्षेत्र में कोई बढ़ोतरी नहीं क्यों हुई? असंगठित क्षेत्र और लघु उद्योग क्षेत्र लगातार शिकायतें करता रहा। दिखाने लायक़ बढ़ोतरी अगर कहीं हुई तो वह है ई–कॉमर्स का क्षेत्र, लेकिन यह वृद्धि अर्थव्यवस्था में कुछ नया नहीं जोड़ती क्योंकि यह पारम्परिक कॉमर्स की क़ीमत पर हुई है। निर्यात में लगातार गिरावट आ रही है। उपभोक्ता–माँग घिसट रही है, और इसकी स्वीकारोक्ति ख़ुद वित्त मंत्री कर चुके हैं। इसी मंदी के कारण निजी क्षेत्र अपनी क्षमता के आधे से भी कम उत्पादन कर चुका है। इसीलिए निवेश की दर 2008 के 38 फ़ीसदी से गिर कर 28 से 30 फ़ीसदी के बीच आ चुकी है। अगर मनमोहन–2 के दौर में भ्रष्टाचार और नीतिगत पक्षाघात को इसका ज़िम्मेदार बताया जाता था, तो नरेंद्र मोदी के दौर में प्रधानमंत्री कार्यालय में सत्ता के अति–केंद्रीकरण पर इन विफलताओं का ठीकरा फोड़ा जा रहा है। जबकि समस्या कहीं गहन है।

अगर मनमोहन सिंह और नरेंद्र मोदी दोनों मिल भी जाएँ, यानी जीएसटी (गुड्स ऐंड सर्विस टैक्स) को संसद पास भी कर दे, तो क्या अर्थव्यवस्था में वांछित उछाल आ जाएगा?[18] अगर सरकार भूमि अधिग्रहण क़ानून पारित करवाने में कामयाब हो जाती, तो क्या उपभोक्ता माँग अचानक

---

[17] देखें, अरुण माइरा (2016), 'सोल्विंग इण्डियाज़ प्रॉब्लम ऑफ़ जॉबलेस ग्रोथ', *मिंट,* 21 जून.

[18] जीएसटी के पैरोकारों का तर्क है कि जैसे ही सारे देश में वस्तुओं और सेवाओं पर एक साथ कराधान शुरू हुआ, अर्थव्यवस्था में दो फ़ीसदी का उछाल आ जाएगा. इस आग्रह की विस्तृत आलोचना के लिए देखें, अरुण कुमार (2015), 'मैक्रोइकॉनॉमिक आस्पेक्ट्स ऑफ़ गुड्स ऐंड सर्विस टैक्स', *इकॉनॉमिक ऐंड पॉलिटिकल वीकली,* खण्ड 50, अंक 29.

बढ़ जाती ? क्या निजी क्षेत्र अपनी तिजोरी खोलते हुए हज़ारों एकड़ नयी अधिग्रहीत ज़मीन पर फटाफट फ़ैक्ट्रियाँ लगा कर भारत को विश्व के एक बहुत बड़े 'मैन्युफ़ैक्चरिंग हब' में बदल देता ? क्या इसके परिणामस्वरूप नौकरियों की लाइन लग जाने के कारण नौजवानों के चेहरों पर मुस्कराहट आ जाती ? क्या इससे बैंकों की नॉन-परफ़ॉर्मिंग एसेट्स वसूलयावी के दायरे में आ जातीं ? क्या भारत के निर्यात को पंख लग जाते, और तेल के अंतर्राष्ट्रीय दाम स्थिर गति से गिरते ही रहते और उनमें कभी बढ़ोतरी की शुरुआत न होती ?

भूमण्डलीकरण के शुरुआती दौर में शायद इन प्रश्नों का उत्तर हाँ में देने की जुर्रत की जा सकती थी। आज जब सारी दुनिया में भूमण्डलीकरण के चेहरे की चमक फीकी पड़ चुकी है और वह बड़े पैमाने पर अमीर देशों में भी सामाजिक असंतोष का सामना कर रहा है, भारतीय अर्थव्यवस्था में कोई बड़ी उम्मीद देखना ख़ुद को एक और धोखा देने के समान होगा।[19] हक़ीक़त यह है कि मोदी सरकार द्वारा जारी वृद्धि के फ़र्ज़ी आँकड़े भूमण्डलीकरण के ग्लोबल सरबराहों को एक भद्दे मज़ाक की तरह चिढ़ा रहे हैं। अब तो देखना यह है कि दुनिया भर में भूमण्डलीकरण के पिछले पैंतीस सालों में लोकतंत्र के ढाँचे को कितना नुक़सान हुआ है और उसकी भरपाई कैसे की जा सकती है। इसी के साथ-साथ यह भी देखना है कि ग्लोबल आर्थिक निज़ाम की गिरावट के ज़माने में इसे बचाने की कोशिशों को समझने का परिप्रेक्ष्य क्या होना चाहिए। क्या यह परिप्रेक्ष्य हमारे पास पहले से है या हमें कोई नया परिप्रेक्ष्य बनाना होगा ?

ब्रेग्ज़िट ने निहायत बेरहमी से हमारे सामने एक बात पूरी तरह से साफ़ कर दी है : भूमण्डलीकरण की प्रक्रिया बाज़ारपरस्ती के आग्रह के साथ शुरू हुई थी, लेकिन उसने मुख्य तौर पर बाज़ार की सक्षमता की क़ीमत पर पूँजीपरस्ती को ही बढ़ावा दिया। यह काम भूमण्डलीकरण की मातहती स्वीकार कर चुके शासक अभिजनों से करवाया गया। नतीजतन, विभिन्न लोकतंत्रों में राजनीतिक प्रणालियों और पार्टी प्रणालियों ने अपनी-अपनी अर्थव्यवस्थाओं में बाज़ार और उसमें होने वाली प्रतियोगिता को उत्तरोत्तर न्यायसंगत बनाने एवं उसे सुदृढ़ करने के बजाय बड़ी पूँजी के हित में विकृतियों को पाला-पोसा, और कुल मिला कर एक तरह की निर्लज्ज कॉरपोरेट परस्ती का रवैया प्रदर्शित किया। इस चक्कर में उन्होंने न सिर्फ़ अपने देशों में भूमण्डलीकरण की बधिया भी बैठाई, बल्कि जनता के बीच मुद्दतों से जमी बैठी राजनीतिक पार्टियों को भी उनकी साख से वंचित कर दिया। आज जनता का एक बहुत बड़ा हिस्सा राजनीतिक दलों की बात मानने के लिए तैयार नहीं है। अगर ऐसा न होता तो ब्रिटेन की दोनों बड़ी पार्टियों, लेबर और कंज़रवेटिव, द्वारा 'रिमेन' का समर्थन करने के बावजूद बावन फ़ीसदी लोग 'लीव' के पक्ष में वोट न देते हुए नज़र आते। अगर ऐसा न होता तो दुनिया भर में उदारतावादी, वामपंथी या कंज़रवेटिव पार्टियाँ आज ख़ुद को कठघरे में खड़ा हुआ महसूस न कर रही होतीं। और, यह नौबत न आती कि जनता के जो हिस्से कभी उनकी बात मानते थे, वे दक्षिणपंथ के उस भद्दे संस्करण की तरफ़ झुक रहे हैं जिसे ये पार्टियाँ हमेशा सख़्ती से ख़ारिज करती रही हैं।

यह देख कर कुछ ताज्जुब हो सकता है कि यहाँ बाज़ारपरस्ती और पूँजीपरस्ती में एक फ़र्क़ किया जा रहा है, जबकि वामपंथी शिक्षा यह है कि ये दोनों एक ही सिक्के के दो पहलू, परस्पर निर्भर और एक-दूसरे को मज़बूत करने वाले हैं। यह बात ठीक है, लेकिन मोटे तौर पर ही। इसी तरह वामपंथ द्वारा की जाने वाली पूँजीवाद की यह समष्टिगत (मैक्रो) आलोचना भी दुरुस्त है कि वह

---

[19] भारतीय अर्थव्यवस्था के इन बुरे दिनों में भी उसकी पीठ ठोकने वालों की कमी नहीं है. हाल ही में विश्व बैंक के अध्यक्ष जिम यंग किम ने अपने भारत भ्रमण पर विश्व-अर्थव्यवस्था की मलिनता के बीच भारत को एक 'चमकदार उदाहरण' क़रार दिया है. इसे ज़्यादा से ज़्यादा आर्थिक 'डिप्लोमेसी' की ही मिसाल माना जा सकता है, क्योंकि विश्व बैंक के आर्थिक विशेषज्ञ भारत की कथित वृद्धि दर को लेकर उत्साहित नहीं हैं. देखें, *द टाइम्स ऑफ़ इण्डिया,* 1 जुलाई, 2016 में सुरजीत गुप्ता की रपट.

मज़दूरों का शोषण करता है, उसके तहत विषमताएँ बढ़ती हैं, अन्य मूल्यों की क़ीमत पर उत्पादन और प्रबंधन में सक्षमता और मुनाफ़े पर ज़ोर हद से ज़्यादा दिया जाता है, पर्यावरण विनाश की तरफ़ से आँखें बंद रखी जाती हैं, लोभ-लालच को बढ़ावा मिलता है, मनुष्य को महज़ उपभोक्ता में बदल कर उसकी सम्भावनाओं को सीमित कर दिया जाता है और आर्थिक गतिविधियों के केंद्र से समाज को हटा दिया जाता है और पूँजी उसकी जगह ले लेती है। यह समष्टिगत आलोचना सही होने के बावजूद विमर्श के संसार को सपाट कर देती है जिसके कारण हम व्यष्टि या माइक्रो स्तर पर पूँजीवाद की सक्रियता, उसके लचीलेपन और अपने भीतर संशोधन करने की क्षमताओं की अनदेखी तो कर ही देते हैं, साथ में यह भी भूल जाते हैं कि मार्क्सवाद के नेतृत्व में विकसित हुई यह समग्र आलोचना जितनी पूँजी की है, उतनी बाज़ार की नहीं है। यह हमें पूँजी और बाज़ार के बीच के अंतर्विरोधों को समझने की दृष्टि प्रदान करने से कुछ चूक जाती है। हमें यह कभी नहीं भूलना चाहिए कि ब्रेग्ज़िट हो या कोई और एग्ज़िट, युरोपीय अर्थव्यवस्थाएँ हर हालत में बाज़ार-प्रधान ही रहने वाली हैं। नया लोकोपकारी राज्य भी बनेगा तो उसका नेतृत्व भी ऐसे बाज़ार के हाथ में रहेगा जो पूँजी को हद से ज़्यादा उन्मुक्त होने से रोकने की पहलक़दमियों से सम्पन्न होगा।

इसी के साथ हमें दो और बातें ध्यान में रखनी होंगी। पहली, आज का ज़माना वह नहीं है जब हम पूँजीवाद और बाज़ार की शक्ल समाजवादी विचारों के आईने में देखने की कोशिश करते थे। शुरू में तो मार्क्सवादी राजनीतिक अर्थशास्त्र के प्रभाव में माना जाता था कि समाजवाद और बाज़ार के बीच कोई तालमेल नहीं बैठ सकता। यानी, बाज़ार द्वारा किये जाने वाले संसाधनों के आवंटन के बजाय श्रम की सामाजिक शक्ति को प्रमुखता देने वाला आवंटन ही श्रेयस्कर है। इस धारणा की व्यावहारिक निष्पत्ति सरकारी नियोजन और 'कमाण्ड इकॉनॉमी' के रूप में सामने आयी। जब इस मॉडल ने सफलतापूर्वक काम नहीं किया तो ऑस्कर लांगे जैसे आर्थिक सिद्धांतकारों के प्रभाव में युगोस्लाविया ने बाज़ार समाजवाद का प्रयोग शुरू किया। कुल मिला कर ये दोनों ही रूप समाजवाद को कमोबेश सरकारी पूँजीवाद में बदलने वाले साबित हुए। आजकल चीन जिस तरह के 'बाज़ार समाजवाद' के मॉडल पर काम कर रहा है, उसके पूँजीवादी आयामों से तो पूँजीवादी देश भी शर्मा जाते हैं। समाजवाद ने न केवल अपने आर्थिक आश्वासन को बरबाद हो जाने दिया, बल्कि सर्वहारा के अधिनायकत्व को पार्टी के अधिनायकत्व में बदल कर अपने राजनीतिक आश्वासन को भी नष्ट कर दिया। दरअसल, समाजवाद ने अपना शोकगीत ख़ुद अपने हाथों से लिखा है। ऐसे समाजवाद की वापिसी की अब कोई गुंज़ाइश नहीं रह गयी है। इसलिए उसके द्वारा थमाए गये परिप्रेक्ष्य को छोड़ कर हमें एक ऐसे ताज़े परिप्रेक्ष्य की आवश्यकता है जो किसी विकल्प की आकर्षक लगने वाली दावेदारी करने के बजाय भूमण्डलीकरण की प्रक्रिया के छिपे हुए अंतर्विरोधों को उघाड़ सके। ख़ास तौर से बाज़ार और बड़ी पूँजी के बीच उभरने वाले अंतर्विरोधों पर रोशनी डालने वाला परिप्रेक्ष्य, क्योंकि भूमण्डलीकरण के विस्तृत फ़लक पर बारीकी के साथ अध्ययन करने लायक़ सबसे ज़्यादा अहम पहलू यही है। ऐसा परिप्रेक्ष्य भारत के संदर्भ में तो बहुत ज़रूरी है। इसी दृष्टि से यहाँ प्रस्ताव यह किया जा रहा है कि आर्थिक विकास के संदर्भ में बाज़ारपरस्ती फिर भी एक दीर्घकालीन दृष्टि की नुमाइंदगी करती है, जबकि पूँजीपरस्ती आर्थिक प्रबंधकों को अल्पकालीन परिप्रेक्ष्य की तरफ़ धकेलती है।

मसलन, बाज़ारपरस्ती माँग करती है कि बाज़ार में भागीदारी करके उसे बनाने वाले सभी समुदायों, तबक़ों और अन्य सामाजिक शक्तियों का किसी न किसी प्रकार ख़याल रखा जाना चाहिए। वह बाज़ार ख़ुद को समस्याग्रस्त मानता है जो रोज़गार नहीं पैदा करता, और जिसके तहत एक तरफ़ तो आमदनी की खाई बढ़ती जाती है और दूसरी तरफ़ पूँजीपतियों को मंदी से उबारने के लिए 'बेलआउट्स' दिये जाते रहते हैं। बाज़ार अपने टिकाऊपन के लिए बैंकों के स्वास्थ्य की चिंता करता है कि वे ढीले-ढाले आकलन और उल्टी-सीधी ज़मानतों के आधार पर क़र्ज़ न बाँटें, और दिये गये

कर्ज़ों को वसूलने का पक्का इंतज़ाम किया जाए। ब्याज दरें इतनी न गिराई जाएँ कि लोग बैंकों में जमा करना ही बंद कर दें, और राष्ट्रीय बचत का ग्राफ़ नीचे गिरता चला जाए। बाज़ारपरस्त अर्थव्यवस्था मुद्रास्फीति को एक निश्चित सीमा से आगे नहीं बढ़ने देना चाहती, ताकि महँगाई क़ाबू में रहे और माँग को त्रस्त न करे। बाज़ारपस्ती के आधार पर किये गये आकलन का क्लासिक उदाहरण देखना हो तो रुचिर शर्मा जैसे बाज़ारवादियों की यह बात ध्यान से सुननी चाहिए कि जब भी किसी अर्थव्यवस्था में निजी क्षेत्र को दिया जाने वाला ऋण जब कुल घरेलू उत्पाद के चालीस प्रतिशत अंक तक पहुँचता है तो समझ लेना चाहिए कि नये आर्थिक संकट की ज़मीन बन रही है। इसी तरह अगर ज़मीन-जायदाद, मकानों, शेयरों और बॉण्डों की क़ीमतें आसमान छू रही हों, तो समझ लेना चाहिए कि इस क्षेत्र में आये उछाल के पीछे बेतहाशा दिये गये कर्ज़ों की भूमिका है, और अगर इस मुक़ाम पर पेच न कसे गये तो आर्थिक अस्थिरता का रास्ता यहीं से खुलेगा। किसी क्षेत्र में मंदी न आये, इसलिए ज़रूरी है कि अत्यधिक उछाल को चौकन्नी निगाहों से देखा जाए। बाज़ारपरस्ती निजी क्षेत्र को नहीं, बल्कि पब्लिक सेक्टर को भी वैध उत्पादक शक्ति के रूप में देखती है, और मानती है कि उसे 'नियोजित ढंग से बीमार बनाना' निजी क्षेत्र को अति-मुनाफ़ा कमाने देने का हथकण्डा है।[20] बाज़ारपस्ती का मज़बूत दावा यह है कि किसी भी राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था की चालक-शक्ति अंततः देशी पूँजी ही होती है, होनी चाहिए।[21] विदेशी पूँजी पर आर्थिक विकास के लिए एक छोटी सीमा तक ही भरोसा किया जा सकता है।

दीर्घावधि अगर बाज़ारपस्ती का परिप्रेक्ष्य है, तो पूँजीपरस्ती हमेशा अल्पावधि का ही ख़याल रखती है। पूँजीपरस्ती चाहेगी कि हर हालत में पूँजीपतियों की 'एनिमल स्पिरिट' का ख़याल रखा ही जाना चाहिए। अगर उद्योगपति ऋण-वापिसी नहीं कर पा रहे हैं और बार-बार डिफ़ॉल्ट हो रहा है, उस सूरत में भी उनसे पैसा वसूलने में सख़्ती न बरत कर वसूलयावी के क़दम सावधानी और नरमी से उठाए जाने चाहिए। पूँजीपरस्ती चाहती है कि ब्याज दर कम से कम रखी जाए ताकि उन्हें कम दर पर ऋण मिल सके, भले ही मुद्रास्फीति निर्धारित सीमा से परे जाती हुई दिखाई दे। पूँजीपति चाहते हैं कि बैंकों का धन उनके लिए मनमाने ढंग से उपलब्ध रहे, और हज़ारों करोड़ के कर्ज़ किसी नामालूम क़िस्म की ज़मानत पर उन्हें थमा दिये जाएँ (आज हम जानते हैं कि विजय माल्या को उप्र के किसी मनमोहन सिंह नामक किसान की ज़मानत पर लम्बा-चौड़ा ऋण दिया गया, जबकि उस किसान को पता भी नहीं था कि उसका इस्तेमाल किया जा रहा है)। पूँजीपरस्ती यह नहीं देखती कि पूँजी देशी है या विदेशी। उसे बड़ी पूँजी की मातहती स्वीकार करने में ख़ास देर नहीं लगती, भले ही वह विदेशी ही क्यों न हो। पूँजीपरस्ती मानती है कि रोज़गार पैदा हो रहे हैं या नहीं, यह सिरदर्दी कॉरपोरेट घरानों की नहीं है, और ऐसे नीतिगत मसलों पर सिर खपाने का काम सरकारी विशेषज्ञों का है।

भारतीय अर्थव्यवस्था में पूँजीपरस्ती और बाज़ारपरस्ती के बीच एक तरह की जंग चल रही है। हमारे लिए ही नहीं, सारी दुनिया के लिए यह द्वंद्व दिलचस्पी का सबब है। नरेंद्र मोदी के वित्त मंत्री अरुण जेटली ने पदभार सँभालते ही अपनी केंद्रीय थीसिस यह कह कर दी थी कि बिज़नेस फ्रेंडली होना और पीपुल्स फ्रेंडली होना एक ही बात है। ध्यान रहे कि उन्होंने मार्केट फ्रेंडली होने की बात नहीं कही थी। हो सकता है कि वे मार्केट और बिज़नेस को पर्यायवाची मान कर चल रहे हों। लेकिन,

---

[20] देखें, रुचिर शर्मा (2016 अ) का मानीख़ेज़ इंटरव्यू, 'देयर इज़ अ नीड टू शेक द स्टेटस को ऑफ़ सेट थियरीज़', *मिंट*, 2 जुलाई. इन तर्कों को विस्तृत रूप से पढ़ने के लिए देखें रुचिर शर्मा (2016), *राइज़ ऐंड फ़ॉल ऑफ़ नेशंस : फ़ोर्सेस ऐंड चेंज इन पोस्ट-क्राइसिस वर्ल्ड*, डब्ल्यू.डब्ल्यू. नॉर्टन ऐंड कम्पनी, न्यूयार्क,

[21] यह दलील मिश्रित अर्थव्यवस्था के दौरान भी दी जाती थी, पर इसके कट्टर बाज़ारवादी संस्करण के लिए देखें, स्वामीनाथन अय्यर (2014), 'इफ़ इण्डियंस आर नॉट इन्वेस्टिंग हेयर, विल फॉरनर्स ?', *द टाइम्स ऑफ़ इण्डिया*, 21 सितम्बर.

आर्थिक विशेषज्ञों का संसार इन दोनों में स्पष्ट अंतर करता है। इसका प्रभावशाली सबूत तब मिला जब लंदन स्थित ग्लोबल थिंक टैंक लिगेटम इंस्टीट्यूट ने भारतीय अर्थव्यवस्था के मौजूदा हालात पर एक विस्तृत अध्ययन पेश किया जिसका शीर्षक था 'एंटी-कम्पटीटिव मार्केट डिस्टॉर्शंस ऐंड देयर इम्पेक्ट : अ केस स्टडी ऑफ़ इण्डिया'।[22] इसके चार लेखकों में दो सिंघम और किनरी का कहना है कि बाज़ार की विकृतियाँ दूर न करने के पीछे दरअसल बिज़नेस एलीट (शीर्ष कॉरपोरेट शक्तियों) के निहित स्वार्थों की सेवा करना है। इस अध्ययन में ऐसे कई मार्केट रिफ़ॉर्म गिनाए गये हैं जिन्हें ज़मीन पर उतारने से रोज़गार पैदा करने और ग़रीबी घटाने में बड़े पैमाने पर कामयाबी मिलेगी, पर हो सकता है कि इनसे चुनिंदा पूँजीपतियों को 'क्रॉनी कैपिटलिज़्म' की शैली में होने वाले लाभ न हों। इस अध्ययन के कई दावे पहली नज़र में बढ़े-चढ़े लग सकते हैं। लेकिन इसका परिप्रेक्ष्य बाज़ारपरस्ती और पूँजीपरस्ती के अंतर्द्वंद्व को साफ़ तौर से रेखांकित करता है।

ज़ाहिर है कि इक्कीसवीं सदी की भारतीय और ग्लोबल परिस्थितियों में पूँजी और बाज़ार का यह द्वंद्व ही आर्थिक जगत का प्रमुख अंतर्विरोध रहने वाला है। लेकिन, इसका मतलब यह नहीं है कि इस फ़ॉर्मूले से आर्थिक घटनाक्रम का हर पेचोख़म समझ में आ सकता है। दरअसल, आर्थिक जगत में कई तरह की ताक़तें और प्रभाव एक-दूसरे को काटते हुए सक्रिय हैं जिनके कारण एक पेचीदगी से भरा नज़ारा बनता है। मसलन, मोदी सरकार ने रिज़र्व बैंक में रघुराम राजन को दूसरा कार्यकाल क्यों नहीं दिया, और वह मुख्य आर्थिक सलाहकार के पद पर अरविंद सुब्रह्मण्यम को क्यों बनाए रखना चाहती है? दोनों में कोई भी संघ परिवार का पसंदीदा नहीं है। हिंदू राष्ट्रवाद दोनों को हटाने के पक्ष में है।[23] बड़े बैंकर और कॉरपोरेट ताक़तें राजन के मामले में हिंदुत्व के साथ हैं, पर सुब्रह्मण्यम के मामले में नहीं। दूसरी पेचीदगी विदेशी पूँजी को ले कर है। सरकार ने जिस तरह कई क्षेत्र सौ फ़ीसदी और बिना शर्त विदेशी पूँजी को ले कर खोले हैं, उससे कई विश्लेषकों का माथा ठनक गया है। सवाल उठाया जा रहा है कि क्या सरकार देशी निवेश की लगातार अनुपस्थिति में विदेशी पूँजी को आर्थिक वृद्धि का इंजन बनाना चाहती है?[24] प्रश्न यह है कि क्या देशी और विदेशी पूँजी को प्रतियोगिता के एक-समान हालात मुहैया कराए जाएँगे या देशी पूँजीपतियों को घाटे के मुक़ाम से कहीं ताक़तवर विदेशी पूँजी से मुक़ाबला करना होगा? विदेशी पूँजी जब भी सौ फ़ीसदी और बिना शर्त सक्रिय होने की इजाज़त पाती है, पहली गाज़ उसके देशी सहयोगियों पर ही गिरती है। उन्हें छूँछ की तरह किनारे पटक दिया जाता है। इससे लगता है कि इस मामले में कोई न कोई अंतर्विरोध ज़रूर बनेगा, हालाँकि अभी यह नहीं कहा जा सकता कि उसका क्या रूप होगा। भूमण्डलीकरण के शुरुआती दौर में तो बजाज जैसे पुराने उद्योगपतियों के नेतृत्व में एक 'बॉम्बे क्लब' की स्थापना हुई थी और उसने 'लेबिल प्लेइंग फ़ील्ड' की दावेदारी की थी। इस प्रक्रिया में कॉरपोरेट तबक़े में विभाजन हो गया था। इस लिहाज़ से विदेशी पूँजी पर दिया गया यह नया ज़ोर एकदम नया गुल खिला सकता है।

---

[22] देखें, शंकर ए. सिंघम, यू. श्रीनिवास रंगन, रॉबर्ट ब्रेडली और ए. मॉली किनरी (2016), *एंटी-कम्पटीटिव मार्केट डिस्टॉर्शंस ऐंड देयर इम्पेक्ट : अ केस स्टडी ऑफ़ इण्डिया,* https://lif.blob.core.windows.net/lif/docs/default-source/publications/anti-competitive-market-distortions-and-their-impact---india-case-study-may-2016-pdf.pdf?sfvrsn=2 पर उपलब्ध, 3 जुलाई, 2016 को देखा गया.

[23] राजन और सुब्रह्मण्यम, दोनों ने ही मौजूदा सरकार के साम्प्रदायिक एजेण्डे पर अपने-अपने तरीक़े से हमला किया है. दोनों की ही बौद्धिकता अमेरिका में परवान चढ़ी है. पर दोनों के प्रति सरकार का अलग-अलग रवैया बताता है कि अंत में फ़ैसला अर्थनीतियों से जुड़े रवैये पर ही आधारित है.

[24] देखें, अनिल पद्मनाभन (2016), 'एनडीए मेक्स अ बिग बेट ऑन एफ़डीआई', *मिंट,* 27 जून. इस चिंता के एक और पहलू के लिए देखें, 'विदेशी हमले के आगे क्या होगा टाटा, अंबानी, महिंद्रा का डिफ़ेंस', *दैनिक भास्कर,* रसरंग, 25 जून, 2016.

# III

भारत में उदारीकरण के पच्चीस साल पूरे हो चुके हैं। सारी दुनिया में भूमण्डलीकरण के फीके पड़ते चेहरे के कारण नवउदारतावाद बचाव की मुद्रा में है, लेकिन भारतीय अर्थव्यवस्था के प्रबंधक और मीडिया के सरबराह आत्मालोचना करने के बजाय रजत जयंती के उत्साह में मगन हैं। 1991 के उन दिनों को सपनीली आँखों से याद किया जा रहा है जब पी.वी. नरसिंह राव, मनमोहन सिंह, पी. चिदम्बरम और मोंटेक सिंह अहलूवालिया ने मिल कर भारतीय भारतीय अर्थव्यवस्था के दरवाज़े खोलने शुरू किये थे। आवाज़ लग रही है : 'दिल माँगे मोर!' उदारीकरण इस पच्चीस साला अवधि को अगर पब्लिक सेक्टरी अर्थव्यवस्था के बरअक्स रख कर देखा जाए, तो उसका रिकॉर्ड कुछ चमकदार ज़रूर लगता है, लेकिन यह उत्सवधर्मिता तो इस अवधि के नकारात्मक पहलुओं को छिपाने का काम कर रही है। यह लीपापोती का ज़्यादा गहरा और कुशल प्रयास है। ज़रूरी है कि पच्चीस साल के मौक़े पर भारत में आर्थिक उदारीकरण की सीमाओं और विफलताओं का जायज़ा लिया जाए ताकि आने वाले संकटों की सही-सही चेतावनी मिल सके।

■ 1990 में देश के कुल घरेलू उत्पाद में मैन्यूफ़ैक्चरिंग सेक्टर (कारख़ाना उत्पादन) का हिस्सा 16.4 प्रतिशत था। एक साल बाद उदारीकरण की शुरुआत में नयी औद्योगिक नीति घोषित की गयी जिससे उम्मीद थी कि इस सेक्टर में विस्तार और गहराई आने से भारतीय अर्थव्यवस्था की उत्पादकता तो बढ़ेगी ही, बड़े पैमाने पर नौकरियाँ भी बढ़ेंगी। लेकिन आज पच्चीस साल बाद 2015-16 में यह हिस्सा 0.2 फ़ीसदी घट कर 16.2 रह गया है।

■ ध्यान रहे कि उदारीकरण की शुरुआत के पीछे राजकोषीय संकट का नज़ारा था। सरकार की उधारी अनापशनाप बढ़ चुकी थी। नयी नीतियों से उम्मीद की गयी थी कि उनके तहत सरकार एक वित्तीय अनुशासन में चलेगी और राजकोषीय घाटा नियंत्रण में रहेगा। लेकिन हुआ क्या? 2000-01 तक सरकार का सम्पूर्ण राजकोषीय घाटा बढ़ कर 1991 के स्तर से भी ऊपर चला गया। हालत यह है कि 2014-15 में सकल राजकोषीय घाटे का स्तर 1995-96 के स्तर से भी ऊँचा हो गया। ज़ाहिर है कि सरकार को वित्तीय अनुशासन सिखाने के वायदे पर भी उदारीकरण खरा नहीं उतर पाया है।

■ सवाल पूछा जा सकता है कि सरकार के घाटे की मुख्य वजह क्या है? इसके दो कारण बताए जा सकते हैं। पहला, टैक्सों से होने वाली आमदनी नहीं बढ़ रही है, और दूसरा, केंद्र सरकार का खर्चा कम नहीं हो रहा है। इस समय भी जीडीपी के अनुपात के रूप में सरकार का सकल कर-राजस्व 1991-92 के स्तर पर ही खड़ा हुआ है। दूसरी तरफ़ केंद्र सरकार के ख़र्चे इतने बढ़ चुके हैं कि सरकार धीरे-धीरे कर्ज़े का ब्याज देने के लिए कर्ज़ लेने की स्थिति में पहुँच रही है। अगर ऐसा हुआ तो एक बार कर्ज़ का फंदा (इसे ही अंग्रेज़ी में डेड ट्रैप कहते हैं) तैयार हो जाएगा। कर्ज़ की क्वालिटी भी लगातार गिर रही है। अगर सरकार अधिसंरचनात्मक विकास के लिए ऋण लेती, तो कोई बात न होती। लेकिन, वह तो अपने रोज़मर्रा के व्यय की पूर्ति के लिए ऋण ले रही है। इस सिलसिले में आँकड़े चौंका देने वाले हैं। 1990-91 यानी उदारीकरण की शुरुआत से ठीक पहले केंद्र सरकार के सकल व्यय का तीस फ़ीसदी हिस्सा पूँजीगत व्यय की श्रेणी में आता था। आज यह आँकड़ा महज़ 12.5 फ़ीसदी रह गया है।

■ इस हक़ीक़त को एक बार फिर रेखांकित करने की ज़रूरत है कि पच्चीस सालों में हुए तमाम सुधारों का परिणाम रोज़गारों के रूप में नहीं निकला है। 1980 की आर्थिक जनगणना के अनुसार प्रति ग़ैरखेतिहर संस्थान से उस समय 3.01 व्यक्ति को रोज़गार मिल रहा था। 2013 की आर्थिक जनगणना बताती है कि अब केवल 2.39 व्यक्तियों को ही रोज़गार नसीब हो पा रहा है। उदारीकरण से पहले

37.11 फ़ीसदी कर्मचारी ऐसे संस्थानों में काम करते थे जिनकी क्षमता दस या उससे अधिक लोगों को नौकरी देने की होती थी। 2013 तक घट कर यह संख्या घट कर 21.15 रह गयी है।

■ उदारीकरण से अगर कुछ और नहीं तो कम से कम यह उम्मीद तो की ही जा सकती थी कि उसके दौर में बच्चों की मृत्यु दर घट जाएगी। लेकिन अगर बांग्लादेश और नेपाल जैसे कहीं ग़रीब और पिछड़े हुए देशों की तुलना की जाए तो उन्होंने भारत के मुक़ाबले इस दौर में बच्चों की मृत्यु दर कम करने में बेहतर प्रदर्शन किया है। 1990 में भारत के बच्चों की मृत्यु दर 125.8 थी जो 2015 तक घट कर 47.7 रह गयी। लेकिन इसी अवधि में बांग्लादेश और नेपाल ने इस दर को क्रमश: 37.6 और 35.8 कर दिखाया।[25]

वरिष्ठ अर्थशास्त्री दीपक नैयर का कहना है कि इस समय भारतीय अर्थव्यवस्था तीन गहरे संकटों का सामना कर रही है। ध्यान रहे कि नैयर वी.पी. सिंह और चंद्रशेखर सरकार के ही मुख्य आर्थिक सलाहकार नहीं रहे, पी.वी. नरसिंह राव सरकार के शुरुआती दिनों में वे ही मुख्य आर्थिक सलाहकार थे। नैयर के अनुसार कृषि, उद्योग और अधिरचना के क्षेत्र इस क़दर संकट में हैं कि उनकी वजह से अर्थव्यवस्था की अग्रगति ठप पड़ी हुई है। खेतिहर भारत साठ के दशक से भी बड़े संकट को झेल रहा है। पिछले पच्चीस साल से प्रति व्यक्ति जीडीपी ग़ैरखेतिहर क्षेत्र के प्रति व्यक्ति जीडीपी के दसवें हिस्से से भी कम रह रहा है। नैयर तो यह भी मानते हैं कि कारख़ाना उत्पादन के क्षेत्र पर नज़र डालने पर वि-उद्योगीकरण का रुझान दिखाई पड़ता है (न केवल इस क्षेत्र से होने वाले निर्यात में लगातार गिरावट आई है, बल्कि जीडीपी में मैन्युफ़ेक्चरिंग का हिस्सा चार प्रतिशत अंक तक गिर गया है)। अधिसंरचनात्मक क्षेत्र की स्थिति यह है कि बिजली, सड़क, परिवहन, बंदरगाह और संचार की सुविधाएँ नाकाफ़ी हैं, और जो हैं भी उनका एक बड़ा हिस्सा नवीकरण में कमी के चलते टूटी-फूटी स्थिति में है। इन कारणों से भारतीय अर्थव्यवस्था की भविष्यगत सम्भावनाएँ अंदेशे की शिकार लग रही हैं। इन तीन बड़े संकटों के साथ-साथ प्रोफ़ेसर नैयर ने स्वास्थ्य और शिक्षा संबंधी व्यवस्थाओं की बुरी हालत की तरफ़ भी इंगित किया है। उन्होंने यह सवाल भी उठाया है कि बाज़ार की क्षमताओं में विचारधारात्मक आस्था के कारण पब्लिक सेक्टर को अधिसंरचनात्मक क्षेत्र से बाहर कर दिया गया, लेकिन उसकी भरपाई करने में निजी पूँजी और विदेशी पूँजी नाकाम रही है। क्या अब समय नहीं आ गया है कि इस मसले पर नये सिरे से विचार किया जाए।[26]

सोचने की बात है कि अगर पच्चीस साल से चल रहे आर्थिक सुधार और उदारीकरण की नीतियों के ये परिणाम हैं, तो क्या हमें, हमारे आर्थिक प्रबंधकों और राजनेताओं को भूमण्डलीकरण के तथाकथित जादू पर नये सिरे से विचार नहीं करना चाहिए? क्या उन्हें भी एक नये लोकोपकारी राज्य की रचना के सुझाव पर ग़ौर नहीं करने लगना चाहिए?

---

[25] उदारीकरण की इन विफलताओं के बारे में विस्तार से देखें, मानस चक्रवर्ती (2016), 'सेविन फ़ैल्यर्स ऑफ़ इकॉनॉमिक लिबरलाइज़ेशन', *मिंट,* 11 जुलाई.

[26] देखें दीपक नैयर का इंटरव्यू, द *इण्डियन एक्सप्रेस,* 6 जुलाई, 2016.